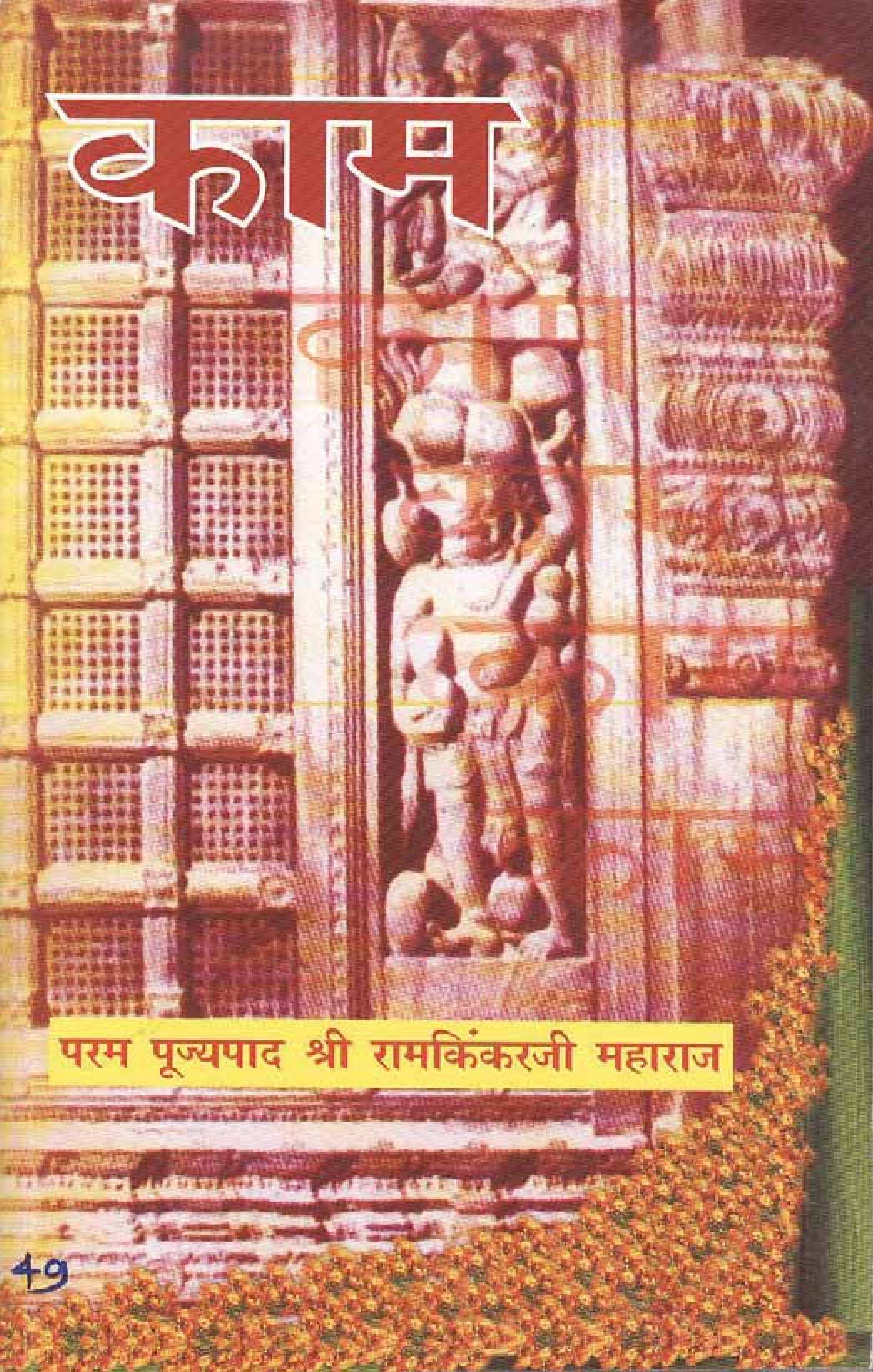

काम

परम पूज्यपाद श्री रामकिंकरजी महाराज

49

प्रकाशक :
रामायणम् ट्रस्ट
रामायणम् आश्रम, परिक्रमा मार्ग, जानकी घाट
श्रीधाम अयोध्या-224 123
फोन - (05278) 232152

सन् 2007, श्री गुरुपूर्णिमा, सम्वत् 2064

© सर्वाधिकार सुरक्षित
रामायणम् ट्रस्ट, श्रीधाम अयोध्या

संशोधन : डॉ. चन्द्रशेखर तिवारी

मूल्य : 30/-

मुद्रक : गोसपेल प्रेस, लखनऊ
फोन : +91522-4007705
ई-मेल : gospel_paperprint@yahoo.co.in

।। श्री रामः शरणं मम।।

अनुवचन

भक्ति का मुख्य उद्देश्य सत्यं, शिवं, सुन्दरं की सृष्टि है। इसीलिए वह व्यक्ति के इतिहास के स्थान पर भगवान् की लीला को अपना मुख्य केन्द्र बनाता है, उस लीला को गुण-दोष की दृष्टि से श्रवण, पठन का विषय नहीं बनाया जाना चाहिये।

महाभारत और श्रीमद्भागवत पुराण की रचना में यही मूलभूत अंतर है। यद्यपि दोनों के रचयिता श्री वेदव्यास हैं। जो मनुष्य भगवान् की लीला को छोड़कर अन्य कुछ कहने की इच्छा करता है, वह उस-इस इच्छा से ही निर्मित अनेक नाम और रूपों के चक्कर में पड़ जाता है। उसकी बुद्धि भेद-भाव से भर जाती है। जैसे हवा के झकोरों से डगमगाती हुई नौका को कहीं भी ठहरने का ठौर नहीं मिलता वैसे ही उसकी चंचल बुद्धि कहीं भी स्थिर नहीं हो पाती-

ततोऽन्यथा किंचन यद्विवक्षतः पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः।
न कुत्रचित्क्वापि च दुःस्थिता मतिर्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम्।।

सारी सृष्टि ही गुण-दोष से भरी हुई है। वर्तमान में ही व्यक्ति लाखों व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है, और उनमें से अधिकांश हमारे मन पर कोई-न-कोई छाप छोड़ जाते हैं। गुण के द्वारा राग और दोष-दर्शन के द्वारा द्वेष हमारे मन पर छाये रहते हैं। वर्तमान में हमारा जिन लोगों से सम्पर्क होता है, उनसे कुछ-न-कुछ लाभ-हानि की समस्या भी जुड़ी रहती है। अतः एक सीमा तक उस प्रभाव से अछूता रहना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। किन्तु इतिहास तो हमें उन लोगों से जोड़ देता है, जिनसे हमें आज कुछ भी लेना-देना नहीं है। उन पात्रों के प्रति हमारे अन्तर्मन में राग-रोष उत्पन्न कर देता है। इस तरह वह हमारा बोझ हल्का करने के स्थान पर ऐसा अनावश्यक बोझ लाद देता है, जिसे केवल ढोना ही ढोना है।

प्रत्येक जाति और देश उसी परम्परा को ढोने का प्रयास कर रहा है। किसी जाति ने किसी समय दूसरी जाति को उत्पीड़ित किया था, अतः उसका बदला लेने के लिये आज भी घृणा-वृत्ति को जीवित रखता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का प्रतिद्वन्द्वी है और अपनी श्रेष्ठता की सुरा

पीकर अन्य राष्ट्रों के विरुद्ध संघर्ष करता है और इस तरह हिंसा-प्रतिहिंसा के चक्र को आगे बढ़ाता ही जाता है। घृणा और संघर्ष की ये प्रवृत्तियाँ मानव-मन में आदिम-काल से विद्यमान हैं। उन्हें उकसाना बहुत सरल है। इससे नेतृत्व प्राप्त कर लेना अत्यन्त सरल हो जाता है। किन्तु इसके द्वारा व्यक्ति और समाज को क्या प्राप्त होता है? यदि हम शान्त चित्त से विचार करें तो देखेंगे कि अशान्ति ही इसकी उपलब्धि है। इसी को देवर्षि नारद हवा के थपेड़ों से भटकती हुई नौका के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। समुद्र या नदी का जल सहज भाव से अशान्त होता है और कहीं तूफान आ जाय तो कहना ही क्या है? मनुष्य का मन भी जल की ही भाँति चंचल है। बुद्धि की नौका पर बैठकर व्यक्ति उस चंचलता के माध्यम से नौका को खेता हुआ लक्ष्य की ओर बढ़ता है। किन्तु उसी समय यदि सामूहिक द्वेष की आँधी चल पड़े तो नौका पर आरूढ़ उस यात्री की दशा की कल्पना की जा सकती है। व्यक्ति और समाज के जीवन में इस आँधी की सृष्टि करने में इतिहास का बहुत बड़ा भाग है।

देवर्षि नारद का श्री वेदव्यास के प्रति यही व्यंग्य था कि तुमने महाभारत-जैसे विशाल इतिहास की सृष्टि करके समाज को क्या देना चाहा है? देवर्षि का उद्देश्य महाभारत के ज्ञान और दर्शन की अवहेलना करना नहीं था। इस क्षेत्र में महाभारत के अद्वितीय अवदान की सराहना उन्होंने प्रारम्भ में ही कर दी थी। किन्तु महाभारत के जातीय युद्ध की गाथा और व्यक्तियों के इतिहास को लेकर वे प्रश्न-चिह्न अवश्य प्रस्तुत करते हैं। इस दृष्टि से महाभारत की उपयोगिता संदिग्ध है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी इस पर एक कटाक्ष किया, "मैं तो चाहता हूँ कि लोग रामायण की शिक्षा का अनुगमन करें, किन्तु समाज तो महाभारत का अनुकरण कर रहा है। मुझ-जैसे दुष्ट की कौन सुने? कलियुग का स्वभाव ही कुचाल से प्रेम करना है-

रामायन सिख अनुहरत, जग भयो भारत रीति।
तुलसी सठ की को सुनै, कलि कुचाल पर प्रीति।।

स्वभावतः संघर्ष प्रिय मानव मन कौरव-पाण्डवों के चरित्र को अपना आदर्श बना लेता है। वह यह सोचकर सन्तुष्ट हो जाता है कि यदि द्वैपायन व्यास-जैसा महापुरुष पाण्डवों को आदर्श मानता है तो उसका अनुगमन करना क्या बुरा है?

देवर्षि नारद व्यास को श्रीमद्भागवत की रचना के लिये प्रेरित करते हैं और इस रचना के बाद ही व्यास, सन्तोष, शान्ति और प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

सद्गुण सम्पन्न श्री गणात्रा दंपति बहुत अच्छे साधक हैं, उनके स्वभाव की तेजस्विता और सेवा में अधीरता प्रभु से जुड़कर उनके लिये भूषण बन गयी। श्रीमती अंजुजी की श्रद्धा, समर्पणभाव जो मैंने अनुभव किया वह दुर्लभ है।

सत्साहित्य प्रकाशन में उनकी यह सेवा असंख्य भक्तों के लिये प्रेरणारूप रहेगी। उनके स्वर्गीय माता पिता उनकी मातृ-पितृ एवं गुरुभक्ति देखकर अवश्य आश्वस्त एवं प्रसन्न होंगे।

सम्पूर्ण गणात्रा परिवार के प्रति मंगलकामना करते हुए प्रभु से प्रार्थना! उनके जीवन में सुचिता, सुमधुरता एवं सुमति बनाये रखें।

निष्ठा एवं समर्पण भाव से कार्यरत डॉ. चन्द्रशेखर तिवारी इस सत्संकल्प को साकार करने में मन-प्राण से लगे हुए हैं। उनकी श्रद्धा बलवती हो! यही शुभाशीष।

रामायणम् ट्रस्ट के ट्रस्टीगण को मैं क्या धन्यवाद दूँ! वे तो मेरे अपने हैं। उनका स्नेह सद्भाव सदैव बना रहे यही प्रभु के चरणों में निवेदन!

अन्य सभी सेवादार एवं नरेन्द्र शुक्ल जिन के अथक परिश्रम से यह ग्रन्थ आप सभी सुधी साधकों को समर्पित है।

प्रभु की सुगंध, प्रभु का सौरभ प्रभु का स्पन्दन सबके जीवन में हो, यही मंगलकामना है।

त्वदीयं वस्तु श्रीराम तुभ्यमेव समर्पये।

सादर,

परम पूज्य महाराजश्री रामकिंकर जी की ओर से

मन्दाकिनी श्रीरामकिंकरजी

।। श्री रामः शरणं मम।।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुर्साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः।।
ह्रदय विराजत रामसिय और दास हनुमान।
ऐसे श्री गुरुदेव को बारम्बार प्रणाम।।

रामचरितमानस के प्रति प्रेम और आस्था के संस्कार हमारे परिवार में मेरे दादा श्री विट्ठलदास बालजी गणात्रा से मिला। पर मानस को रक्त में मिलाकर जीवन को अमृतमय बनाने का कार्य मेरे परम पूज्य सद्गुरुदेव रामायणमय वाणी के पर्याय श्रीरामकिंकरजी महाराज ने किया।

परम पूज्य श्री रामकिंकर महाराज का एक ग्रन्थ पढ़ते ही मुझे लगा कि जो मेरे पास नहीं है वह मानो मिल गया, अन्धकार से प्रकाश हो गया, घुटन के बाद हवा मिल गयी और संसार से विष के बदले अमृत मिलने लगा। सबसे पहले मैंने उनको लन्दन से मुम्बई आकर "बिरला मातुश्री सभागृह" में अपने बड़े भाई के साथ सुना। ऐसा सुदर्शन उनका दर्शन, ऐसा अमृतमय उनका वचन, ऐसी गम्भीर उनकी वाणी, अद्वितीय प्रस्तुतीकरण उस समय मुझे वे ही वे दिख रहे थे। हम जिस होटल में ठहरे थे, कृपापूर्वक हमलोगों के कहने पर वे वहाँ पर पधारे और हमने उन्हें हनुमानचालीसा, नवधा–भक्ति तथा श्रीमद्भगवद्गीता का बारहवाँ अध्याय "भक्ति–योग" सुनाया।

कुछ वर्षों तक ऐसे ही भारत आना–जाना लगा रहा, मैं भारत केवल महाराजश्री को ही सुनने आता था। मेरे और मेरी पत्नी अंजू के विशेष आग्रह पर उन्होंने ऐसी कृपा की, कि वे एक महीना के लिये लन्दन आये और चौदह या पन्द्रह प्रवचन किये। वहाँ जिज्ञासुओं ने उस अवसर पर पूरा लाभ उठाया। लन्दन के निवासियों के लिये वह स्मृति अविस्मरणीय हो गयी। महाराजश्री की पुस्तकों में व्यक्ति के जीवन, चिन्तन और दिशा बदलने की अभूतपूर्व सामर्थ्य है। भारत मूल का होने के नाते मुझे यहाँ की भूमि बहुत आकर्षित करती है, और उस आकर्षण का मूल कारण केवल यह है कि जहाँ प्रभु श्रीराम ने अवतार लिया, जहाँ पर गंगा और सरयू का तट है और जिस भूमि पर एक ऐसे महापुरुष ने जन्म लिया जो मन, वचन और कर्म से राममय थे और राममय हो गये। उनकी कृपामूर्ति का दर्शन कर जैसे आज के समय में हमलोग गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज की स्मृति करते हैं उसी तरह आज से हजारों वर्ष तक लोग परम पूज्य श्रीरामकिंकरजी महाराज के दर्शन और उनके अमृतमय साहित्य को पढ़कर अपने जीवन में मार्गदर्शन प्राप्त करते रहेंगे।

आज मनुष्य को जिस वस्तु की जरूरत है, वह है स्वस्थ चिन्तन और पवित्र दिशा। इसके अभाव में व्यक्ति कितना भी विकास क्यों न करे, उसको विकास नहीं माना जा सकता। रामायणम् ट्रस्ट को पूज्य महाराजश्री का यह वरदान प्राप्त है कि वह उनके चिन्तन को प्रसारित व प्रचारित करने के लिये अधिकृत है। मेरा यह मानना है कि जितनी भगवान् श्रीराम के नाम की महिमा है, उतनी ही महिमा परम पूज्य महाराजश्री के साहित्य की है, क्योंकि दोनों ही भगवान् के शब्दमय विग्रह हैं।

रामायणम् ट्रस्ट की अध्यक्ष श्रद्धेय मन्दाकिनी श्रीरामकिंकरजी एवं सभी ट्रस्टियों का मैं अभारी हूँ कि जिन्होंने मुझे इस सेवा का अवसर दिया और भविष्य में भी मेरी यही भावना है कि ऐसी सेवा मैं करता रहूँ। आमतौर पर माना यह जाता है कि बड़े सत्कर्मों के परिणामस्वरूप सम्भव होता है जब गुरु कृपा होती है, पर मेरा मानना यह है कि मेरा तो कोई भी कर्म ऐसा नहीं है जिसके फलस्वरूप मुझे ऐसे अवतार पुरुष की कृपा प्राप्त होती, यह तो उनकी अहैतुकी कृपा ही थी कि वे बिना कारण ही मुझ पर कृपा करते थे और करते हैं।

अपनी पूज्य माताजी और पूज्य पिताजी की पुण्य स्मृति में यह सेवा करके मुझे जीवन में धन्यता का अनुभव हो रहा है।

श्री गुरुदेव का चरण सेवक,
अरुण गोर्धनदास गणात्रा और
अंजू अरुण गणात्रा, लन्दन

।। श्री रामः शरणं मम।।

काम

'काम' शब्द बड़ा अनोखा है और इस शब्द को लेकर अनेक 'मत' और 'अर्थ' हमारे सामने आते हैं। परम्पाया तो काम की निन्दा की गयी है पर यदि हम गहराई से दृष्टि डालें तो देखते हैं कि रामचरितमानस तथा हमारे अन्य धर्मग्रन्थों में काम की प्रवृत्ति और उसके स्वरूप का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, वह बड़ा ही गंभीर है। यदि हम विचार करके देखें तो यहाँ उपस्थित हम-सब एवं सम्पूर्ण समाज के मूल में ईश्वर तो है ही, पर संसार के निर्माण में हमें काम की वृत्ति ही दिखायी देती है। काम की वृत्ति के विविध पक्ष हैं। काम क्या दुष्ट वृत्ति ही है? क्या वह 'खल' और निन्दनीय है? जैसा कि 'मानस और अन्य ग्रन्थों में, अनेकानेक स्थलों में उसके बारे में वर्णन करते हुए कहा गया है। निसंदेह, काम का एक पक्ष यह भी है। पर हम देखते हैं कि काम, सृष्टि के सृजन और विस्तार में सहायक तो है ही, मनुष्य के अंतःकरण में जो आनंद और रस की पिपासा है, उसकी अनुभूति का मानो एक साकार रूप भी है। इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि काम निंदनीय ही नहीं, वंदनीय भी है। इसलिए यदि किसी प्रसंग-विशेष में काम की निंदा की गयी है तो उसका एक उद्देश्य है और उसी प्रकार उसकी प्रशंसा के पीछे भी एक निहित उद्देश्य ही उसका कारण है।

जिन तीन विकारों का नाम प्रमुखता से लिया जाता है वे हैं- 'काम, क्रोध और लोभ'। आप देखेंगे कि कि उनमें से 'क्रोध' और 'लोभ' से जुड़ा हुआ नाम रखना लोग पसंद नहीं करते। किसी का नाम लोभचन्द्र या लोभशर्मा यह सुनने को नहीं मिलता। इसी तरह क्रोध या उसके समानार्थी शब्दों से संयुक्त नाम भी नहीं सुने जाते। पर 'काम' शब्द इतना लोकप्रिय है कि इससे जुड़े हुए नाम रखने में कोई संकोच

नहीं दिखायी देता। 'काम' या उसके पर्यायवाची शब्दों के नाम वाले अनेकानेक व्यक्ति समाज में मिलते हैं। मदनमोहन, मदनलाल, मनोज आदि नाम बहु-प्रचलित हैं। इसका अर्थ है कि 'काम' की अच्छाई-बुराई और उसकी आवश्यकता एवं उपयोगिता पर गहराई से विचार किया जाना चाहिये।

मनुष्य शान्ति और सुख की खोज में सदैव सचेष्ट रहा है। इन्हें प्राप्त करने के लिये प्राचीन परम्परा में वर्णित जिन दो मार्गों की चर्चा की गयी है, वे हैं- **प्रवृत्ति मार्ग** और **निवृत्ति मार्ग**। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में दोनों ही पक्षों को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। **'मानस'** में भी कई प्रसंगों में इन पर विचार किया गया है।

सनक, सनंदन, सनातन और सनत्कुमार ये चारों तथा नारदजी आदि अनेक नाम 'निवृत्ति परायण' महात्मा के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनकी मान्यता है कि 'संसार की वस्तुओं में कोई आनंद नहीं है और वे वस्तुएँ क्षणिक हैं, नाशवान् हैं। दूसरा मार्ग प्रवृत्ति का मार्ग है। इस परम्परा में भी अनेक महापुरुषों के नाम लिये जा सकते हैं। जहाँ व्यक्तिगत आत्मकल्याण की बात है, निवृत्ति मार्ग की प्रशंसा की गयी है। पर संसार में सृजन, निर्माण और विस्तार का क्रम निवृत्ति मार्ग से तो नहीं हो सकता। इन दोनों पर विचार करने की दृष्टि से 'मानस' में भगवान् शंकर का जो प्रसंग है, हम उसे ले सकते हैं। भगवान् शंकर का एक नाम 'कामारि' भी है। इससे तो यही लगता है कि वे काम के शत्रु हैं, विरोधी हैं, पर इसे जिस रूप में रखा गया वह बड़े महत्त्व का है।

भगवान् शंकर की जो कथा हम 'मानस' के प्रारंभ में पढ़ते हैं उसमें 'काम' के साथ-साथ तारकासुर का भी नाम जुड़ा हुआ है। वह एक भोगवादी दैत्य है। 'भोग और अमरत्व' ये दोनों उसके जीवन के अभीष्ट हैं। भोग की प्राप्ति के लिये वह देवताओं पर नाना प्रकार के अत्याचार करता है। भोग की अभिलाषा देवताओं के मन में भी दिखायी देती है। अतः वृत्ति चाहे आसुरी हो या दैवी, भोग की लालसा दोनों में ही विद्यमान होती है। देवता और दैत्य दोनों ही यह मानकर चलते हैं कि संसार की वस्तुओं और विषयों में सुख है।

'देवत्व' की प्राप्ति के पीछे जो धारणा है आप उसे जानते ही होंगे। मनुष्य, देवता का शरीर क्यों पाना चाहता है? उसके पीछे मनुष्य की सुख पाने की वृत्ति जुड़ी हुई है। मनुष्य संसार की वस्तुओं में सुख पाना चाहता है और उसे सुख मिलता भी है, चाहे वह अल्पकाल के लिये ही क्यों न हो! पर मनुष्य के सामने, भोगों को अपनी इच्छा के अनुकूल भोगने का एक दुष्परिणाम भी सामने आता है। भोगों के आधिक्य से मनुष्य के शरीर में कई रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे वह भोगों का सेवन नहीं कर पाता। मनुष्य-शरीर के साथ वृद्धावस्था और मृत्यु की समस्या भी जुड़ी हैं। व्यक्ति चाहता है कि 'मैं मनमाना भोग करूँ पर भोग से होने वाली कठिनाइयों से मुक्त भी रहूँ! इसलिए शास्त्र जब यह कहते हैं कि 'जो व्यक्ति सत्कर्म और पुण्य करेगा उसे देव-शरीर मिलेगा और देवता न तो कभी बूढ़े होते हैं और न ही उन्हें कोई रोग होता है, तो व्यक्ति सोचता है कि क्यों न देव शरीर प्राप्त कर मनचाहे भोगों का सुख उठाया जाय! इस प्रकार देवत्व की प्राप्ति के मूल में भोग करने की ही वृत्ति है। इस दृष्टि से दैत्यों और देवताओं की वृत्ति में कोई अंतर दिखायी नहीं देता।

संसार में भी जो लोग भोगों की निन्दा करते हुए दिखायी देते हैं, उनमें से अधिकांश व्यक्ति तो बस परंपरया निन्दा करने के लिये ही निंदा करते हैं, अन्यथा स्वयं उनको भी विषय-वस्तु में सुख का ही अनुभव होता है। बिरले व्यक्ति ही ऐसे होते हैं जिनके द्वारा की गयी निंदा को हम सच्चे अर्थों में निन्दा मान सकते हैं। इतना प्रबल आकर्षण है भोगों का! मनुष्य इसके लिये सत्कर्म और पुण्य करता है और हम यह भी देखते हैं कि कभी-कभी दैत्य और राक्षस भी तपस्या और साधना करते हैं पर उनका भी उद्देश्य वही होता है- भोग के लिये शरीर की अमरता।

कथा आती है कि जब भगवान् शंकर समाधि में लीन थे उस समय तारकासुर ने तपस्या की। उसे वरदान देने के लिये ब्रह्मा जी आये। दैत्यों की सबसे प्रिय माँग तो 'अमरता' ही है। वे चाहते हैं कि उनका शरीर कभी नष्ट न हो जिससे वे नाना प्रकार के भोगों को भोग सकें। तारकासुर जानता था कि यदि वह सीधे अमरता का वरदान माँगेगा तो

ब्रह्मा जी कह देंगे - "सृष्टि का नियम नहीं बदलता। लंबी आयु और विविध प्रकार के भोगादि तो प्राप्त हो सकते हैं, पर अमरत्व नहीं मिल सकता।"

दैत्यों की एक वृत्ति यह भी होती है कि वे जिसकी आराधना करते हैं उसे वे शक्तिमान् तो मानते हैं पर अपनी अपेक्षा बुद्धिमान् नहीं मानते। वे मानते हैं कि देवता जो वरदान देंगे वे निश्चित रूप से जीवन में पूरे होंगे, सच होंगे, पर उनकी यह भी धारणा है कि 'बुद्धिमानी से हम उनसे वह भी ले सकते हैं, जो वे नहीं देना चाहते।' ब्रह्माजी ने जब तारकासुर से पूछा - "तुम क्या चाहते हो?" तो उसने कहा- "मेरी मृत्यु न हो!" पितामह ब्रह्मा ने कहा- "यह संभव नहीं है।" तब उस समय तारकासुर ने चतुराई का प्रयोग करते हुए जो कहा उससे दैत्यों के चिंतन का एक रूप हमारे सामने आता है।

आनंद पाने की दो वृत्तियाँ दिखायी देती है। एक वृत्ति वह है कि जो व्यक्ति को ऊपर उठने की प्रेरणा देती है। ऐसी मान्यता है कि व्यक्ति ज्यो-ज्यों शरीर, मन, बुद्धि आदि से ऊपर उठता जायगा, त्यों-त्यों उसके अन्तःकरण में आनंद का विस्तार होता चला जायगा और इस तरह वह क्रमशः ऊपर उठते हुए परमानन्द की स्थिति प्राप्त कर धन्य हो जायगा। इसे हम मुक्तावस्था या भगवान् से अभिन्नता की स्थिति भी कह सकते हैं। आनन्द पाने की दूसरी वृत्ति व्यक्ति को नीचे की दिशा में ले जाती है, उसे पतनोन्मुखी बना देती है। यदि शरीर के संदर्भ में भी देखें तो शरीर के उर्ध्व अंगों से आनंद पाने की चेष्टा मानो ऊपर की ओर उठने की वृत्ति का परिचायक है और अधोगामी अंगो से सुख पाने की चेष्टा मनुष्य की पतनोन्मुखी वृत्ति की ओर संकेत करती है। संसार में जिनकी वृत्ति निम्न धरातल की होती है, वही लोग अधःशरीर से सुख पाने की चेष्टा करते हैं।

तारकासुर सोचता है कि शंकरजी तो साक्षात् ईश्वर हैं। उन्होंने कभी सतीजी को पत्नी के रूप में भले ही स्वीकार किया था, पर अब तो सतीजी की मृत्यु हो गयी है और भगवान् शंकर समाधि में चले गये हैं, अतः भविष्य में उनके विवाह की कोई सम्भावना ही नहीं है। क्योंकि जिसने ऊपर उठकर समाधि के द्वारा परमानन्द का अनुभव कर लिया,

वह नीचे उतरकर, शरीर के माध्यम से क्यों सुख पाने की चेष्टा करेगा। यह तारकासुर की तर्क-पद्धति है। इसलिए उसने ब्रह्माजी से कहा कि आप मुझे यह वरदान दीजिए कि 'मेरी मृत्यु यदि हो तो वह केवल शंकर जी के शरीर से उत्पन्न पुत्र के हाथों से ही हो।' वह सावधान था कि कहीं ऐसा न हो कि शंकरजी अपने संकल्प से ही पुत्र उत्पन्न कर दें और मैं मारा जाऊँ! ब्रह्माजी ने उसे यह वरदान दे दिया, इसीलिए बाद में तारकासुर की मृत्यु का उपाय बताते हुए वे कहते हैं कि -

संभु सुक्र संभूत सुत एहि जीतइ रन सोइ। १/८२

इसकी मृत्यु शंकरजी के शरीर से उत्पन्न पुत्र के हाथों होगी। तारकासुर का तर्क यह था कि 'ऐसी संतान तो विवाह करने के बाद ही उत्पन्न होती है। भगवान् शंकर में शरीर-सुख की कोई आकांक्षा है नहीं, इसलिए अब न तो वे विवाह करेंगे, न ही उनको कोई पुत्रउत्पन्न होगा और न ही मेरी मृत्यु होगी। तारकासुर का यह गणित भले ही ठीक न हो, पर उसकी यह धारणा बिलकुल ठीक है कि आनंद लेने की वृत्ति तो सबमें होती है। अंतर यही है कि कुछ लोग सूक्ष्म रूप से, शरीर और विषयों से ऊपर उठकर, आनंद लेते हैं और कुछ लोग इसे स्थूल रूप से शरीर के द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं। गोस्वामीजी ने इन दोनों वृत्तियों का चित्रण करते हुए एक बहुत बढ़िया दोहा लिखा है।

बहुधा हमें भी यह दृश्य दिखायी देता है कि एक व्यक्ति वाटिका में जाता है और यदि उसे कोई फूल दिखायी दे जाय तो वह उसे तोड़ लेता है, नाक के पास ले जाकर क्षण-दो क्षण सूँघता है और फिर उसे मसलकर फेंक देता है। पर उसी वाटिका में एक दूसरा जीव दिखायी देता है - भौंरा, जो फूल पर बैठकर, बिना रंचमात्र भी उसे नष्ट किये, उसका रस ग्रहण करता है। दोहावली में गोस्वामीजी लिखते हैं कि एक ओर तो-

पिअहिं सुमन रस अलि बिटप,

और दूसरी ओर-

काटि कोल फल खात।

जंगली व्यक्ति न केवल फलों को तोड़ता है, अपितु यदि उसे

अधिक फल चाहिये तो वह वृक्ष की डाल भी तोड़ देता है या फिर पेड़ को ही काट डालता है। गोस्वामीजी कहते हैं कि दोनों (भौंरा और जंगली व्यक्ति) वृक्ष के सहारे ही रहने वाले जीव हैं -

तुलसी तरुजीवी जुगल,

पर दोनों की वृत्तियों में अंतर है-

सुमति कुमति की बात।। (दोहावली/३४३)

इसका अभिप्राय है कि एक ही वस्तु से रस और आनंद की प्राप्ति, उस वस्तु को नष्ट करके या बिना हानि पहुँचाये भी की जा सकती है। यह उस व्यक्ति की प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। इस संदर्भ में दृष्टांत के रूप में पुष्पवाटिका का मधुर प्रसंग हमारे सामने आता है।

भगवान् राम गुरुदेव की आज्ञा से पूजा के लिये पुष्प लेने पुष्पवाटिका में आते हैं। उसी समय श्रीसीताजी भी सखियों के साथ वहाँ पधारती हैं। श्रीसीताजी के आभूषणों की ध्वनि भगवान् राम को सुनायी पड़ती है और इसे सुनकर भगवान् राम को कामदेव का स्मरण हो आता है। मानो गोस्वामीजी काम को इतना ऊँचा रूप भी प्रदान करते हैं। यहाँ भगवान् राम के साथ श्रीलक्ष्मणजी भी हैं। भगवान् राम ने लक्ष्मणजी की ओर देखा, पर उन पर ऐसा कोई प्रभाव नहीं दिखा। भगवान् राम के मन में उस समय एक कविता का जन्म हुआ। जितनी ललित कलाएँ हैं उनके मूल में 'काम' ही तो होता है। यदि 'काम' न हो तो संगीत, नृत्य, शृंगार आदि का आनंद नहीं आ सकता। काम न हो तो सुंदर-सुंदर चित्रों ओर कलाकृतियों का निर्माण नहीं हो सकता, क्योंकि 'काम' एक प्रेरक वृत्ति है और निर्माण का मूल कारण है।

ब्रह्म ने अयोध्या में कविता का निर्माण नहीं किया पर पुष्पवाटिका में उनके अंतःकरण में काव्यरस की स्फुरणा होती है। वे लक्ष्मणजी से पूछते हैं - "लक्ष्मण! तुमने कुछ सुना?" पर लक्ष्मणजी की यही विशेषता है कि वे जानते हैं कि कब बोलना चाहिये और कब चुप रहना चाहिए। प्रभु ने देखा कि वे मौन हैं तो स्वयं कहने लगे - "लक्ष्मण! मुझे ऐसा लगता है कि कामदेव के मन में विश्वविजय की इच्छा उत्पन्न हुई है और वह वाद्य बजाता हुआ मुझ पर आक्रमण करने

के लिये आ रहा है। क्योंकि काम ने सोचा होगा कि संसार के लोगों को अलग-अलग हराने से तो अच्छा है कि- 'विश्वरूप राम को हरा दूँ' और सीधे ही विश्वविजेता बन जाऊँ!"

दो प्रकार से आक्रमण किया जा सकता है - एक तो छिपकर और दूसरा प्रकट रूप से, खुलकर सामने आकर। काम यहाँ पर छिपकर आक्रमण नहीं कर रहा है। वैसे तो काम में थोड़ी-सी छिपाने की वृत्ति स्वाभाविक रूप से होती ही है पर जब मनुष्य को यह प्रतीत होता है कि 'यह पाप है या बुराई है' तो उस स्थिति में वह काम को विशेष रूप से छिपाने की चेष्टा करता है। पर आज काम का दुस्साहस तो इतना बढ़ा हुआ है कि वह खुल कर, बाजा बजाता हुआ आक्रमण करने के लिये आ रहा है। गोस्वामीजी कहते हैं कि-

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि।।
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं।
मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्हीं।।१/२२९/१,२

भगवान् राम 'काम' के आगमन को स्वीकार करते हैं। फिर गोस्वामीजी आगे वर्णन करते हुए कहते हैं कि भगवान् राम के इतना कहते-कहते श्री सीताजी सखियों के साथा दिखायी भी दे गयीं। यद्यपि श्री सीताजी अभी श्रीराम को नहीं देख पा रही हैं, पर भगवान् राम ने सीताजी को देख लिया-

अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा।
सिय मुख ससि भए नयन चकोरा।। १/२२९/३

और वे उनकी ओर इस प्रकार निहारने लगे जैसे चकोर चन्द्रमा की ओर देखता है। वे श्रीसीताजी के सौन्दर्य की मन ही मन प्रशंसा करते हुए लक्ष्मणजी से कहते हैं - "लक्ष्मण! यही जनकनंदिनी सीता हैं जिनके लिये धनुषयज्ञ हो रहा है -

तात जनकतनया यह सोई।
धनुषजग्य जेहिं कारन होई।।
पूजन गौरि सखीं लै आई।
करत प्रकास फिरइ फुलवाई।।१/२३०/१,२

ये पार्वती का पूजन करने के लिये आयी हुई हैं तथा सारी वाटिका में प्रकाश फैला रही हैं।'' प्रभु के एक-एक शब्द बड़े महत्त्व के हैं। पहली बात तो उन्होंने यही कहा कि 'इनके लिये यज्ञ हो रहा है' और दूसरी बात यह है कि 'ये अपने प्रकाश से सारी वाटिका को प्रकाशित कर रही हैं।

गोस्वामीजी भगवान् राम के द्वारा श्रीसीताजी को देखने के बाद उनके मनोभावों का वर्णन करते हुए एक पंक्ति और भी लिखते हैं, जिसमें वे श्रीसीताजी के सौन्दर्य की तुलना दीपशिखा से करते हुए कहते हैं कि -

सुंदरता कहुँ सुंदर करई।
छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई।।१/२२६/७

सीताजी मानो एक प्रज्वलित दीपशिखा की तरह हैं। संस्कृत साहित्य में ऐसी उपमा मिलती है। कालिदास ने भी इसका प्रयोग किया है।

रामायण में इस 'दीपशिखा' का वर्णन तीन रूपों में किया गया है- भक्ति की दीपशिखा, माया की दीपशिखा और ज्ञान की दीपशिखा। बरसात में एक दृश्य बहुधा दिखायी देता है कि पतंगों के झुण्ड के झुण्ड, जलती हुई दीपशिखा की लौ की ओर बढ़ते हैं और उसका स्पर्श करके जलकर नष्ट हो जाते हैं। इन 'दीपक और पतंगों को हम किस रूप में देखें? उर्दू के शायरों तथा हिन्दी के कवियों ने पतंगे को 'प्रेमी' के रूप में प्रस्तुत किया है। कहा जाता है कि वह सच्चा प्रेमी है जो प्राणों का मोह छोड़कर, मिलन के लिये अपने आपको भस्म कर देता है। गोस्वामीजी ऐसा नहीं मानते। वे मानते हैं कि दीपशिखा का प्रेमी पतंगा नहीं है, अपितु दीपशिखा के सच्चे प्रेमी तो विज्ञ पुरुष, विद्वान्-बुद्धिमान् व्यक्ति ही कहे जा सकते हैं, क्योंकि वे प्रकाश का सदुपयोग करते हैं। वे अँधेरे में दीपशिखा की सहायता से वस्तुओं को देखते हैं, अध्ययन करते हैं और कई अन्य उपयोगी कार्य सम्पन्न करते हैं। दीपक से प्रेम करने का अर्थ यह तो नहीं होता कि व्यक्ति जाकर अपने को भस्म कर दे! 'मानस' में इससे जुड़ा हुआ एक व्यंग्यात्मक प्रसंग अंगद-रावण संवाद के रूप में आता है।

अंगद जब रावण की सभा में गये तो रावण ने अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये अंगद से कहा कि मैंने सुना है कि तुम्हारे स्वामी तपस्वी ने शंकरजी की पूजा की है, और उस पूजन में फूल चढ़ाये हैं। तुम क्या मेरा इतिहास जानते हो? मैंने भी भगवान् शंकर की पूजा की है और तुमने सुना ही होगा कि मैंने यह पूजा तुम्हारे स्वामी की भाँति साधारण फूलों से नहीं की अपितु अपने सिर सरोज से की है-

सिर सरोज निज करन्हि उतारी।
पूजे अमित बार त्रिपुरारी।। ६/२४/३

रावण अपने सिर को कमल मानता है और कहता है कि मैंने अनेकों बार अपने सिर रूपी कमल के पुष्प, भगवान् शंकर को अपने हाथों से अर्पित कर उनकी पूजा की है। रावण भगवान् राम से अपनी तुलना करते हुए आगे कहता है कि शंकरजी मेरे घर में पूजा स्वीकार करने के लिये स्वयं आते हैं, पर तुम्हारे तपस्वी के यहाँ तो आये नहीं, उसने तो मूर्ति बनाकर पूजा की है! अब तुम्हीं बताओं कि किसकी पूजा श्रेष्ठ है? रावण फिर कहता है कि 'मैं तो शंकरजी का इतना बड़ा भक्त-शिष्य हूँ कि मैंने उनको सम्मान देने के लिये उन्हें कैलास पर्वत सहित उठाकर अपने सिर पर धारण कर लिया था, बताओ! तुम्हारे स्वामी में क्या ऐसी क्षमता है?

रावण की बात सुनकर, अंगदजी ने हँसकर व्यंग्य करते हुए कहा कि रावण! तुम्हारी प्रशंसा के लिये मुझे दो शब्द ही उपयुक्त लग रहे हैं - एक तो 'पतंगा' और दूसरा 'गधा'। मुझे लगता है कि इन दोनों का मिला-जुला रूप ही तुम्हारा सर्वश्रेष्ठ परिचय है। क्योंकि -

जरहिं पतंग मोह बस,

मूर्ख पतंगे स्वयं तो दीपशिखा में जलकर नष्ट होते ही हैं, कभी-कभी वे दीपशिखा को भी बुझा देते हैं, इसलिए ये मूर्खता के साकार रूप ही हैं।

दीपशिखा में प्रकाश भी है और दाहकता (जलाने की क्षमता) भी। बुद्धिमान् व्यक्ति तो वह है कि जो 'दाहकता' को छोड़ दे और 'प्रकाश' को ग्रहण कर उसका सदुपयोग करे। रावण ने अपने सिर को काटकर चढ़ा दिये और इस रूप में प्रसिद्ध भी हो गया, पर क्या सिर

काटकर चढ़ा देना ही सच्ची पूजा है?

अंगदजी ने रावण पर व्यंग्य किया- "रावण! यदि तुम्हारे द्वारा अर्पित फूल शंकरजी को पसंद आये होते, तो वे उन्हें रख न लेते? पर उन्होंने तो ज्यों के त्यों लौटा दिये! उन्हें पसंद नहीं आये इसीलिए तो तुम्हारे सब के सब सिर फिर से निकल आये!" अंगदजी इसके द्वारा बहुत सुंदर संकेते देते हैं। मानो शंकरजी सोचते हैं - 'यह बड़ा नासमझ है, मेरी पूजा में जो वस्तु चढ़ानी चाहिये वह तो चढ़ाता नहीं है! चढ़ाना चाहिये था अभिमान को काटकर, पर यह मूर्ख सिर काट कर चढ़ा रहा है!''

हम देखते हैं कि भगवान् शंकर की प्रसन्नता और अप्रसन्नता के साथ यह सिर-काटना अन्य प्रसंगों में भी जुड़ा हुआ है। वे अप्रसन्न होते हैं तो सिर काट देते हैं और प्रसन्न होने पर सिर बदल देते हैं। भगवान् शंकर ने दो व्यक्तियों का सिर काटा था, एक तो अपने बेटे गणेशजी का तथा दूसरा, अपने श्वसुर दक्ष प्रजापति का, पर सिर काटने के बाद उन्होंने दक्ष के पुराने सिर के बदले बकरे का सिर जोड़ दिया था, और गणेशजी के सिर पर हाथी का सिर जोड़ दिया था। इस प्रकार एक पर 'अज' का सिर और दूसरे पर 'गज' का सिर जोड़ दिया। इसका मानो संकेत यह है कि दक्ष बड़े योग्य हैं, चतुर हैं और बुद्धिमान् हैं। पर उन्हें अपनी योग्यता का बड़ा अभिमान हो गया था। अतः उस अभिमान को नष्ट करने के लिये उनका सिर भगवान् शिव ने काट दिया और उसके स्थान पर पशु का सिर लगा दिया था। क्योंकि पशु में अभिमान नहीं होता और सचमुच सिर लगते ही दक्ष भगवान् शंकर की स्तुति करने लगा। अभिमान के नष्ट हो जाने से उसका विरोध बैरभाव भी समाप्त हो गया। आज भी प्राचीन पद्धति से पूजा करने वाले लोग पूजा के अंत में बकरे की बोली की नकल करते हैं। यह प्रक्रिया उस पुरानी कथा का स्मरण दिलाती है और पूजा के मूल में जो 'अभिमान-त्याग' का मंत्र है उसे जाग्रत् करती है। वीरभद्र के द्वारा सिर काटे जाने से लगा कि भगवान् शिव नाराज हैं पर अहंकार-शून्य' नया सिर प्रदान करना तो उनकी कृपा का प्रतीक है। क्योंकि भगवान् शंकर की पूजा का सही फल तो वस्तुतः 'अहंकार से मुक्ति' ही है और यह

फल भगवान् शंकर की प्रसन्नता और कृपा से ही प्राप्त होता है।

गणेशजी का प्रसंग भी बड़ा सांकेतिक है। गणेशजी का निर्माण पार्वतीजी ने अकेले ही किया था। इसलिए गणेशजी न पहचान पाने से, शंकरजी को भीतर पैठने से रोक दिया। भगवान् शंकर ने उनका सिर काट दिया। देवी पार्वती को जब यह ज्ञात हुआ तो वे विलाप करने लगीं और तब शंकरजी ने गणेशजी को हाथी का नया सिर प्रदान किया। भगवान् शंकर 'विश्वास' के देवता हैं और गणेश जी 'विवेक' के देवता हैं। विश्वास घर का स्वामी है और विवेक पहरेदार हैं। इसका अर्थ है कि जीवन में विवेक को पहरेदार होना चाहिये कि जिससे दुर्गुण-दुर्विचार रूपी चोर-डाकू हृदय के भीतर प्रविष्ट न हो सकें पर यदि 'विवेक' विश्वास को ही भीतर न बैठने दे, तब तो यह अभिमान की ही पराकाष्ठा होगी। इसलिए उनका सिर काटना पड़ा। आज जिन गणेशजी की पूजा हम सब करते हैं उनका सिर पुराना, अभिमान-युक्त न होकर, भगवान् शंकर के द्वारा दिया गया नया सिर है। मानो शंकरजी ने पार्वतीजी से कहा- देवि! आपने गणेशजी का निर्माण अकेले कर डाला इसलिए वह मुझे पहचान नहीं सका। अब उसका शरीर तो आपका ही दिया हुआ रहेगा पर सिर मैंने अपनी ओर से लगा दिया है जिससे एक सामंजस्य हो जायगा और वह हम दोनों के प्रतिनिधि के रूप में समादृत होगा। सचमुच, गणेशजी श्रद्धा का शरीर और विश्वास का सिर पाने के बाद जगत्पूज्य हो गये, प्रथम पूज्य हो गये। विवेक की यही सार्थकता है कि उसमें श्रद्धा और विश्वास दोनों ही हों।

भगवान् शंकर, रावण का सिर न तो स्वीकार करते हैं और न ही बदलते हैं अपितु उसे ज्यों का त्यों वापस लौटा देते हैं। वे जानते हैं कि रावण महामूर्ख और पक्का अभिमानी है। वह बदल नहीं सकता। क्योंकि बदला तो उसे जा सकता है जो बदलने की इच्छा रखता हो पर रावण तो अपने आपको बदलने में कोई विश्वास नहीं रखता। इसलिए अंगदजी रावण के 'सिर-काटने' की वृत्ति के पीछे पतंगे की वृत्ति देखते हैं। रावण ने यह जो कह दिया था कि 'मैंने शंकरजी को सिर पर उठा लिया था' उसके लिये वे गधे का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं-

जरहिं पतंग मोह बस भार बहहिं खर बृंद।

रावण! तुम जानते हो ही कि गधा कितना बोझ उठाता है? पर उस पर चंदन की लकड़ी लादी जाय या कूड़ा-कर्कट लादा जाय, वह तो बस दोनों को ढोता ही है। उसे न तो चंदन की सुगंध आती है और न ही गंदगी की दुर्गंध! तुमने भी यदि विवेकपूर्वक शंकरजी को सिर पर उठाया होता तो तुम्हारे मस्तिष्क में 'विश्वास' आ गया होता और तब तुम्हारा भी कल्याण हो जाता। पर तुमने तो उठाया कहाँ? ढोया ही, इसलिए तुम तो गधे की ही तरह हो!" कहा भी गया है कि-

यथा खरश्चंदनभारवाही भारस्यवेत्ता न तु चंदनस्य।

एक गधा चंदन लादकर चला जा रहा था। उसे देखकर एक व्यक्ति ने कहा- "कितना सौभाग्यशाली है यह!" निकटवर्ती दूसरे व्यक्ति ने कहा "वह सौभाग्यशाली नहीं, पूरा गधा ही है क्योंकि वह तो बस चंदन का बोझ ही ढो रहा है, उसे न तो यह पता है कि इसमें कितनी सुगंध है, शीतलता है और न ही वह जानता है कि वह पूजा के उपयोग की एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है।"

अंगदजी का तात्पर्य था कि रावण! तुम्हारा कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि भगवान् शंकर तुम्हारे इष्ट हैं और जिनसे तुम युद्ध करने जा रहे हो वे श्रीराम साक्षात् भगवान् हैं और उनकी आराधना भगवान् शंकर भी करते हैं। अंगद जी रावण से कहते हैं कि-

जरहिं पतंग मोह बस भार बहहिं खर बृंद।
ते नहिं सूर कहावहिं समुझि देखु मतिमंद।।६/२६

भगवान् राम से लड़ने के तुम्हारे संकल्प के पीछे तुम्हारी वीरता नहीं, मुझे तो तुम्हारी मूर्खता ही दिखायी दे रही है। इसका अर्थ है कि दीपक का प्रकाश तो बहुत बड़ा गुण है, पर आप उससे क्या लेते हैं यह अधिक महत्त्वपूर्ण है। सीताजी को 'दीपशिखा' कहने के पीछे गोस्वामजी का यही संकेत है।

श्री सीताजी जनकपुर, अयोध्या तथा लंका तीनों ही स्थानों में दिखायी देती है। जनकपुर और अयोध्या में वे ऐसी दीपशिखा की तरह हैं कि जिनसे प्रकाश फैलता है पर लंका में उनका दूसरा पक्ष दिखायी देता है। लंका में तो उनकी दाहकता का ही गुण प्रकट होता है क्योंकि जब वे लंका में आती हैं तो लंका जलकर खाक हो जाती है। जनकपुर

में भगवान् राम उन्हें देखकर यही तो कहते हैं कि कैसा दिव्य प्रकाश है इनका! -

करत प्रकासु फिरइ फुलवाई।। १/२३०/२

और रावण की श्रीसीताजी के प्रति जो दृष्टि है, गोस्वामजी उससे हमें सावधान करते हुए कहते हैं कि-

दीपसिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग। ३/४६-ख

सौन्दर्य तो 'दीपशिखा' की भाँति है। व्यक्ति उसे देखकर यदि 'पतंगा' बनेगा तो जलकर मर जायगा और यदि इसे प्रकाश के स्रोत के रूप में ग्रहण करेगा तो धन्य हो जायगा। भगवान् राम ने श्रीसीताजी का परिचय जो यह कहकर दिया कि इनके लिये यज्ञ हो रहा है, यह प्रकाश के ही पक्ष का द्योतक है। रावण, बाणासुर सहित और भी बहुत से राजा श्रीसीताजी को पाने के लिये आये हुए हैं, पर वे स्वयंवर को यज्ञ समझकर नहीं, जुआ समझकर आये हुए हैं। वे सोचते हैं - दाँव खेलो ! शायद हमसे ही धनुष टूट जाय। शायद हमारे गले में जयमाला पड़ जाय! पर भगवान! राम ऐसा नहीं सोचते। वे कहते हैं-

तात जनक तनया यह सोई।
धनुष जग्य जेहि कारन होई।।१/२३०/१

'जुए' में पाने की वृत्ति और 'यज्ञ' में देने की वृत्ति है। आहुति देना यज्ञ है।

भगवान् राम सीताजी के सौन्दर्य की सराहना करते हुए कहते हैं कि -

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा।
सहज पुनीत मोर मनु छोभा।। १/२३०/३

मेरे मन में आजतक विकार का उदय नहीं हुआ पर आज क्षोभ उत्पन्न हो गया। इस प्रकार भगवान् राम यदि एक ओर काम की वृत्ति और उसके प्रभाव को स्वीकार करने में किसी संकोच का अनुभव नहीं करते तो दूसरी ओर साथ ही वे यह भी कहते हैं कि श्रीसीताजी यज्ञमयी हैं, प्रकाशमयी हैं।

उधर, इस बीच श्रीसीताजी ने भी भगवान् राम को देख लिया। वे प्रभु को अपलक देख रही हैं। अब परिचय भी तो होना चाहिये न!

क्योंकि संसार में एक-दूसरे को देखने के बाद परिचय किया जाता है। साधारणतया तो यही होना चाहिये था कि भगवान् राम सीताजी के पास चले जाते, परिचय पूछ लेते और दोनों वार्तालाप कर लेते। प्राचीन काल में गान्धर्व विवाह की भी परंपरा थी। पर यहाँ बड़ी अनोखी बात है कि इन दोनों के बीच कोई वार्तालाप नहीं होता। श्रीसीताजी ने भगवान् राम को देखा और वे इतनी तन्मय हो गयीं कि देह की सीमा से ऊपर उठ गयीं।

गोस्वामीजी से पूछा गया - "श्रीराम आये, श्रीसीताजी को देखकर आकृष्ट हुए पर उन्होंने कोई बातचीत नहीं की, वे कम 'रसिक' लगते हैं, आप क्या कहना चाहेंगे? गोस्वामीजी ने कहा कि श्रीराम तो भ्रमर हैं, कोई 'कोल' थोड़े हैं ! वे कहते हैं -

करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लोभान।
मुख सरोज मकरंद छबि करइ मधुप इव पान।।१/२३१

"भगवान् राम भ्रमर बन कर सीताजी के मुख-सरोज के मकरन्द का पान कर रहे हैं। मानो भगवान् राम को इस बात का भान है कि मैं परिचय प्राप्त करके इस 'विदेहनगर' में 'देह' को प्रमुखता नहीं दूँगा। यहाँ पर काम की स्वीकारोक्ति तो है पर काम में शरीर के स्तर पर रस लेने की वृत्ति के स्थान पर, उससे ऊपर उठकर रस-ग्रहण करने की उत्कृष्ट और दिव्य वृत्ति है।

'मानस' में भगवान् राम के विवाह-प्रसंग में भी काम का बार-बार वर्णन आता है। गोस्वामीजी उस प्रसंग में भी काम को खल या दुष्ट न कहकर उसे सम्मान और गौरव प्रदान करते हुए उसका स्मरण करते हैं। क्योंकि विवाह का देवता तो काम ही है। गोस्वामीजी ध नुष-यज्ञ के मंडप में भी काम की उपस्थिति का वर्णन कर उसे बहुत ऊँचा स्थान प्रदान करते हैं।

धनुष यज्ञ के मंडप में श्रीसीताजी पधारती हैं। भगवान् राम तो पहले से ही वहाँ मंच पर विराजमान हैं। अब यहाँ पर सीताजी भगवान् राम को उस तरह से एकटक तो नहीं देख सकतीं, जैसे पुष्पवाटिका में देख रही थीं, इसलिए यहाँ वे एक दूसरी विधि से भगवान् राम का दर्शन करती हैं। गोस्वामीजी सीताजी की दृष्टि का वर्णन करते

हुए कहते हैं कि वे एक बार दृष्टि ऊपर उठाकर भगवान् राम की ओर देखती हैं और दूसरे ही क्षण दृष्टि नीची करके पृथ्वी की ओर देखने लगती हैं -

प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि,

वे बार-बार ऐसा करती हैं। इस प्रकार उस समय श्रीसीताजी के नेत्रों में जो चंचलता दिखायी देती है, गोस्वामीजी उस दृश्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि -

प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधु मंडल डोल।।१/२५८

'श्रीसीताजी के चंचल नेत्र ऐसे लग रहे हैं कि जैसे चन्द्रमा के अमृत से बने हुए दिव्य सरोवर में कामरूपी दो मछलियाँ खेल रही हों।' गोस्वामीजी सीताजी के नेत्रों की उपमा 'कामरूपी मछलियों से देते हैं, इससे तो उनका यही भाव स्पष्ट रूप से सामने आता है कि वे काम को सर्वथा त्याज्य और निंदनीय नहीं मानते। क्योंकि यदि वे ऐसा मानते तो श्रीसीताजी की आँखों में काम को स्थान कदापि नहीं देते। वे चाहते तो कोई अन्य उपमा ढूँढ़ लेते। पर वे काम का ही स्मरण करते हैं। गोस्वामीजी तो रस के भी सिद्ध कवि हैं। जिन्हें रस का समुचित ज्ञान न हो ऐसे कवि रस के संदर्भ में उपमा चुनने में चूक सकते हैं, गोस्वामीजी कदापि नहीं चूक सकते।

एक बार मैं एक विवाह में गया। गृहस्वामी कथाप्रेमी थे। उन्होंने कहा कि थोड़ी कथा हो जाय। मैंने कहा- "भाई! विवाह में गाली गायी जाती है, कथा नहीं की जाती।" शृंगार के प्रसंग में शृंगार ही रहे तो अच्छा लगता है। कथा महत्त्वपूर्ण है पर विवाह के तुरंत बाद कथाप्रेमी पति यदि पत्नी से यह कहे कि 'कथा सुनो' तो यह बात बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं कही जा सकती। 'मानस' में भगवान् शंकर के विवाह का वर्णन आता है। विवाह के पश्चात् भगवान् शंकर जब पार्वतीजी के साथ कैलास पर्वत पर आये तो गोस्वामीजी ने यह नहीं लिखा कि वे पार्वतीजी को लगे रामकथा सुनाने यद्यपि भगवान् शंकर रामकथा के रचयिता हैं और सर्वश्रेष्ठ बक्ता भी हैं, पर वे ऐसा नहीं करते। गोस्वामीजी उस प्रसंग का वर्णन करते हैं तो यही कहते हैं कि-

जबहिं संभु कैलासहि आये।
सुर सब निज निज धाम सिधाए।। १/१०२/३

और तब वहाँ कथा नहीं होती।

"तब क्या होता है?" गोस्वामीजी कहते हैं कि-

करहिं बिबिधि बिधि भोग बिलासा।
गनन्ह समेत बसहिं कैलासा।।
हर गिरजा बिहार नित नयऊ।
एहि बिधि बिपुल काल चलि गयऊ।।१/१०२/५,६

भगवान् शंकर ने बहुत दिनों तक शृंगार की आनंदमयी लीला पार्वतीजी के साथ संपन्न की। इसके बाद स्वामी कार्तिकेय का जन्म हुआ, जिन्होंने तारकासुर का वध किया। यह वही तारकासुर दैत्य है जिसकी यह धारणा थी कि 'शंकरजी विवाह नहीं करेंगे तो उनको पुत्र नहीं होगा और मैं मरूँगा नहीं।' पर वह मारा गया। बाद में कथा की भी बात आयी। इस तरह सभी बातें उचित समय और उपयुक्त स्थान में महत्त्वपूर्ण और शोभनीय होती हैं।

मान लीजिये! कोई रोगी किसी ऐसे डाक्टर के पास अपनी चिकित्सा के लिये जाय जो सत्संगी भी हो। यदि डाक्टर रोगी की बात सुनने के बाद, रोगी को दवा देने के स्थान पर, कहने लगे कि 'शरीर तो नाशवान् है, एक दिन तो मरना ही है, इसलिए छोड़ो दवा का चक्कर!' तो इसे सुनकर रोगी क्या प्रसन्न हो जायगा कि कितने बड़े सत्संगी डाक्टर हैं? वह तो सिर पीट लेगा कि कैसा मूर्ख डाक्टर है ! क्योंकि उस समय तो उसे रोग मिटाने के लिये दवा चाहिये, तत्त्वज्ञान नहीं। तत्त्वज्ञान का भी महत्त्व है पर शरीर को स्वस्थ्य रखना भी आवश्यक है, क्योंकि -

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। - कुमारसंभव

गोस्वामीजी समय और स्थान के अनुरूप ही वर्णन करते हैं। भगवान् शंकर तो रामकथा के आचार्य हैं, रामकथा-रस से ओतप्रोत हैं। इसलिए कुछ काल व्यतीत हो जाने पर एक दिन जब भगवान् शंकर वटवृक्ष की छाया में आसीन होते हैं, तब उस समय शृंगार रस के स्थान पर शांत रस आता है। भगवान् शंकर को सर्वथा 'काम' का विरोधी

कहना तो उचित नहीं होगा, क्योंकि शान्तरस के आने से पूर्व कैलास में शृंगार रस ही तो विद्यमान था और शृंगार रस का परिपाक तो बिना काम के संभव ही नहीं है। पर इसके साथ-साथ वह बात भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि प्रत्येक वस्तु या रस की भी एक सीमा होगी, अवधि होगी। कोई भी रस चाहे कितना भी सुखद प्रतीत क्यों न हो, व्यक्ति यदि उसमें निरंतर संलग्न रहने की चेष्टा करेगा तो वह जीवन में अपूर्ण रह जायगा और एकरसता के कारण वह रस भी अपना आकर्षण खोता चला जायगा। इसलिए एक सीमा के बाद, एक अवधि ा के बाद कैलास पर्वत पर दृश्य बदल गया। गोस्वामीजी कहते हैं कि-

बैठे सोह कामरिपु कैसें।
धरें सरीरु सांतरसु जैसें।।
पारबती भल अवसर जानी।
गई संभु पहिं मातु भवानी।।
कथा जो सकल लोक हितकारी।
सोइ पूछन चह सैल कुमारी।। १/१०६

पार्वतीजी वटवृक्ष के नीचे आसीन भगवान् शंकर के निकट जाकर उनके चरणों में प्रणाम करती हैं और श्रीरामकथा के संबंध में प्रश्न करती हैं, तब भगवान् शंकर उन्हें विस्तार से रामकथा सुनाते हैं।

पुष्पवाटिका-प्रसंग में भगवान् राम के द्वारा काम की स्वीकृति में काम के महत्त्व और गौरव का पक्ष प्रकट होता है, और जब धनुष-यज्ञ के मण्डप में गोस्वामीजी जनकनंदिनी की आँखों में काम की परिकल्पना करते हैं, तो मानो यह 'काम' के सम्मान की पराकाष्ठा है। इसी प्रकार भगवान् शंकर एवं पार्वतीजी के प्रसंग में शृंगार के माध्यम से काम की प्रतिष्ठा की ही बात सामने आती है। भगवान् राम के विवाह-प्रसंग में भी गोस्वामीजी 'काम' को बड़ा सम्मान देते हैं।

भगवान् राम दूल्हे के रूप में जिस घोड़े पर सवार होते हैं, गोस्वामीजी उसके शृंगार, सौन्दर्य और चंचलता की बड़ी प्रशंसा करते हैं। यह उचित भी है कि घोड़ा चंचल हो। यही तो उसकी शोभा है। घोड़ा यदि इतना शान्त हो जाय कि गधे की तरह चलने लगे तो क्या उसकी प्रशंसा होगी? घोड़े में गति हो, उत्साह हो और तीव्रता हो! यही

तो अपेक्षित है। किसी ने गोस्वामीजी से पूछ दिया - "महाराज! भगवान् राम जिस घोड़े पर सवार हैं, वह कहाँ से आया है? वह घोड़ा अयोध्या का है या मिथिला का है? गोस्वामीजी ने कहा कि यह घोड़ा सचमुच अद्वितीय है, क्योंकि यह तो 'काम' है जो घोड़े का वेष बनाकर नाच रहा है। मानो काम ने सोचा कि विवाह के अवसर पर भगवान् राम को भी मेरी आवश्यकता होगी, इसलिए वह घोड़ा बनकर आ गया और इस प्रकार 'राम' और 'काम' का साथ हो गया।

'काम' को किस रूप में देखें? उसे निंदनीय मानें या वंदनीय मानें? यह विचार-संघर्ष व्यक्ति के मन में बार-बार उठता ही रहता है इस प्रश्न से समाज और संसार का स्वरूप ही जुड़ा हुआ है। यदि यह कहा जाय कि जीवन में या जीवन की हर क्रिया में कठोर नियम होना चाहिये, मर्यादा होनी चाहिये, तब तो संसार मानो एक 'जेलखाना' बन जायगा और हर व्यक्ति बंदी की तरह जीवन व्यतीत करने को विवश हो जायगा। पर दूसरी ओर यदि मन को यह खुली छूट दी जाय कि वह 'जो चाहे वही करे' तब तो यह समाज एक पागलखाना ही बन जायगा। समाज की ये दोनों ही स्थितियाँ अकल्याणकारी हैं। इसलिए समाज को न तो 'जेलखाना' बनाना है और न ही 'पागलखाना' क्योंकि व्यक्ति को वस्तुतः 'घर' की आवश्यकता है। स्वतंत्रता के नाम पर मनमानी करने की छूट देने से व्यक्ति अंत में 'पागलखाना' तक ही तो पहुँच जायगा। व्यक्ति यदि यह सोच ले कि मैं किसी 'सीमा' या 'दीवार' को स्वीकार नहीं करूँगा, क्योंकि दीवार या सीमा के भीतर रहना बंधन है, तो ऐसा व्यक्ति रात्रि में खुले स्थान में सोते हुए क्या सुरक्षित रह पायगा? क्या उसे चोर और डाकुओं का डर नहीं बना रहेगा? इसलिए 'घर' कथित स्वतंत्रता के नाम पर अंततोगत्वा प्राप्य 'पागलखाने' और कठोर नियम-पालन से बननेवाले 'बंदीखाने' के बीच की एक सामञ्जस्यपूर्ण कड़ी है और घर में रहने से ही व्यक्ति का कल्याण सुनिश्चित है।

'घर' और 'जेलखाने' में यद्यपि कुछ साम्यताएँ दिखायी देती हैं पर दोनों में जो अंतर है, वह बड़े महत्त्व का है। जेलखाने में दीवारें होती हैं, तो घर में भी होती हैं, खिड़की, दरवाजे एवं किवाड़ आदि भी

दोनों ही स्थानों में होते हैं, पर आप विचार करके देखें कि जेलखाने में आप पूरी तरह परतंत्र हैं और घर में परतंत्र और स्वतंत्र दोनों ही हैं। दीवाल में घिर गये तो परतंत्र हो गये, ऐसा लगता है, पर अंतर है। घर में आप जब चाहें किवाड़ खोल सकते हैं और जब चाहें बंद कर सकते हैं। घर में बाहर-भीतर दोनों ओर ही ताला बंद करने का प्रबंध होता है और यह आपके हाथ में होता है। पर जेलखाने में ताला बंद करने का एक ही स्थान होता है- बाहर की ओर और उसका नियंत्रण भी दूसरे के हाथ में होता है। इसी तरह 'काम' के प्रति भी स्वेच्छाचारिता और कठोर नियंत्रण की वृत्तियों के बीच सामंजस्य की आवश्यकता है। भगवान् राम, श्रीसीताजी और भगवान् शंकर के द्वारा काम की स्वीकृति, उसको इसी रूप में ही ग्रहण करने का संकेत-सूत्र है।

'राम' और 'काम' एक-दूसरे के विरोधी हो सकते हैं और एक-दूसरे से जुड़े हुए भी हो सकते हैं, पर दोनों को जोड़ देना ही बहुत बड़ी कला है। विवाह तो काम के बिना होगा नहीं अतः भगवान् राम के विवाह में भी काम उपस्थित है। पर वह घोड़े के रूप में है, 'सवार' के रूप में नहीं है। गोस्वामीजी कहते हैं कि भगवान् राम जिस अश्व पर दूल्हे के रूप में विराजमान हैं, वह कामदेव ही है और उस (काम-अश्व) की लगाम भगवान् राम के हाथ में है। चंचलता और गतिशीलता तो अश्व के स्वाभाविक गुण हैं पर कठिनाई तब होती है कि जब वह सवार को अपनी इच्छा से जहाँ चाहे ले जाने में स्वतंत्र हो जाय! ऐसी स्थिति में वह सवार को न जाने किधर ले जाय? और न जाने कब पटक दे, गिरा दे? पर यदि उसकी लगाम, उस पर आरूढ़ व्यक्ति के हाथ में हो, तो फिर वह किसी प्रकार से कोई अहित नहीं कर सकता। गोस्वामीजी दूल्हे के रूप में अश्वारूढ़ भगवान् राम का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह दृश्य बड़ा ही सुंदर है-

जेहिं तुरंग पर रामु बिराजे।
गति बिलोकि खगनायक लाजे।।
कहि न जाइ सब भाँति सुहावा।
बाजि बेषु जनु काम बनावा।।

जनु बाजि बेष बनाइ मनसिजु राम हित अति सोहई।
आपने बय बल रूप गुन गति सकल भुवन बिमोहई।।
जगमगत जीनु जराव जोति सुमोति मनि मानिक लगे।
किंकिनि ललाम लगामु ललित बिलोकि सुर नर मुनि ठगे।।
(१/३१५/छं)

गोस्वामीजी 'काम-अश्व' के रूप, गुण, गति और बल आदि के वर्णन के साथ-साथ यह कहते हैं कि मणि एवं मोती से जड़ी हुई एक सुंदर लगाम भी है जो भगवान् राम के हाथों में है। इसका अर्थ है कि 'काम' का नियंत्रण भगवान् राम के हाथ में है और वे जैसा चाहते हैं काम को वैसा ही नचाते हैं।

गोस्वामीजी ने इस दृश्य के बारे में एक और अद्भुत बात कही। वे कहते हैं कि 'काम घोड़े का रूप बनाकर आया है और नाच रहा है' ऐसा हमें दिखायी देता है, पर काम भले ही घोड़े के रूप में दिखायी दे रहा हो, वस्तुतः वह भगवान् राम की श्याम छवि को देखकर मानो 'मोर' बन कर नाच रहा हो।

इसका संकेत यही है कि 'काम' के बिना सृष्टि चलेगी नहीं और 'काम' तो आनंद की वह अभिव्यक्ति है कि जिससे बढ़कर अन्य कोई उपमान न तो रामायण में मिलता है और न ही उपनिषद् में। इसीलिए उपनिषद् में ब्रह्मसुख को समझाने के लिये जो उपमा दी गयी उसमें कहा गया कि-

यथा पुरुषः जायया सपरिष्वक्तः बाह्याभ्यन्तरं न किंचन्वेद।

'जैसे पति-पत्नी मिलन के दिव्य रस में सभी बाह्य वस्तुओं को भूल जाते हैं, उसी प्रकार से समाधिकाल में ब्रह्म से एकत्व की अनुभूति करने वाला व्यक्ति ब्रह्मानंद में डूब जाता है।'

भक्तों की भाषा में यदि कहें तो वे भी प्रभु-प्रेम की तीव्रता के मापदण्ड के रूप में काम-सुख का ही दृष्टान्त देते हैं। 'मानस' में गोस्वामीजी भगवान् राम से प्रेम की याचना करते हैं। भगवान् राम गोस्वामीजी से पूछते हैं कि 'तुलसीदास! तुमने मेरे चरित्र का वर्णन किया है, बोलो! क्या चाहते हो?"

- महाराज! प्रेम चाहता हूँ!"

- भरत जी की तरह!
- महाराज! मैं और श्रीभरत?
- लक्ष्मणजी या हनुमान्‌जी की तरह!
- प्रभु! भला मैं ऐसा दुस्साहस कर सकता हूँ?
- तो फिर तुम कैसा प्रेम चाहते हो?

तुलसीदासजी कहते हैं - "प्रभु!

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम।।७/१३०

जैसे कामी का नारी के प्रति आकर्षण होता है, प्रीति होती है और जैसे लोभी को धन से प्रेम होता है, आप मुझे उसी भाँति प्रिय लगें। इस तरह आनंद और सुख की चरम स्थिति की अनुभूति को काम से जोड़े बिना अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। फिर यह प्रश्न उठता है कि 'काम' की निन्दा क्यों की जाती है? गोस्वामीजी काम के साथ जुड़ी हुई समस्याओं का भी संकेत रामचरितमानस में करते हैं जिनके कारण वह निंदनीय बन जाता है। काम के ये दोनों ही पक्ष भगवान् शंकर के प्रसंग में दिखायी देते हैं।

भगवान् शंकर की समाधि का सबसे बड़ा लाभ तारकासुर को प्राप्त होता है। वह देवताओं पर मनमाने अत्याचार करता है और उन सब को जीतकर देवलोक पर अपना अधिकार कर लेता है। वह गणित करता है कि शंकरजी समाधि में हैं और उस आनंद को छोड़कर वे नेत्र खोलकर बाहर का सुख क्यों ढूँढ़ेंगे? परिणाम यह होता है कि भगवान् शंकर समाधि का आनंद लेते हैं और समस्त देवता एवं संसार के सब प्राणी तारकासुर के कारण दुख भोगते हैं। कथा आती है कि भगवान् राम शंकरजी के पास जाकर उनसे पार्वतीजी से विवाह करने की प्रार्थना करते हैं। भगवान् शंकर इसे स्वीकार तो कर लेते हैं, पर भगवान् राम के रूप का स्मरण करते हुए वे पुनः समाधिस्थ हो जाते हैं और इस तरह भगवान् राम को दिया हुआ अपना वचन भूल जाते हैं। तब देवताओं ने कामदेव का स्मरण किया। गोस्वामीजी कहते हैं कि सब देवता मिलकर कामदेव की स्तुति करने लगे-

अस्तुति सुरन्ह कीन्हि अति हेतू।

और तब कामदेव प्रकट हो गये-

प्रगटेउ बिषमबान झषकेतू।। १/८२/८

वर्णन आता है कि कामदेव के ध्वज पर मछली का चिह्न अंकित है। यह चिह्न मानो संकेत करता हे कि जिस प्रकार मछली जल से अलग कर देने पर मृतप्राय हो जाती है, उसी प्रकार कामी व्यक्ति भी, कामरस से उसके मन को विलग कर दिये जाने पर, अपने जीवन को व्यर्थ समझने लगता है।

कामदेव ने प्रकट होकर मुस्कराते हुए देवताओं की ओर देखा। उसकी दृष्टि में आश्चर्य का भाव था और प्रश्न भी था कि 'आज तो नयी बात हो गयी, आप लोग मेरी स्तुति कर रहे हैं। बताइये! क्या बात है? देवताओं ने भगवान् शंकर की समाधि और तारकासुर के अत्याचार का वर्णन करते हुए काम से प्रार्थना की- "तुम भगवान् शंकर के पास जाकर उन पर अपने बाण से ऐसा प्रहार करो कि वे समाधि से बाहर आ जायँ, अपने नेत्र खोलकर देखें और उनमें विवाह की कामना उत्पन्न हो जाय। क्योंकि विवाह के बाद उत्पन्न होने वाले पुत्र के हाथों ही तारकासुर की मृत्यु हो सकेगी।" देवताओं की बात सुनकर कामदेव समझ गया कि उसका अंतिम क्षण आ गया है, क्योंकि वह जानता है कि शंकरजी पर आक्रमण करने पर उसकी मृत्यु सुनिश्चित है-

सिव बिरोध ध्रुव मरनु हमारा। १/८३/२

कामदेव ने देवताओं से यही कहा कि यद्यपि मैं जानता हूँ कि इस कार्य में मेरी मृत्यु हो जायगी पर मैं इसको अवश्य करूँगा। क्योंकि इस कार्य के रूप में मुझे परोपकार का जो अवसर मिल रहा है, उसके परिणाम में मुझे एक सर्वथा दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति होगी। कामदेव ने कहा कि-

परहित लागि तजै जो देही।
संतत संत प्रसंसहि तेही।। १/८३/२

जो परोपकार के लिये शरीर छोड़ता है, संत उसकी प्रशंसा करते हैं संतों ने तो आजतक मेरी बड़ी निंदा की है, पर यदि आज मैं शरीर छोड़ दूँगा, तो उनको भी मेरी प्रशंसा करनी पड़ेगी, इसलिए यह कार्य

मैं अवश्य ही सम्पन्न करूँगा और सचमुच 'काम' का यह कार्य परोपकार की दृष्टि से सर्वथा विलक्षण था, स्तुत्य था।

रामायण में दो परोपकारी हैं - 'कामदेव' और 'गीध'। भगवान् ने इनमें से एक को बेटा बनाया और तथा दूसरे को पिता। गीधराज जटायुजी ने श्रीसीताजी की रक्षा में अपने प्राण दे दिये। भगवान् राम ने उन्हें पिता का स्थान प्रदान करते हुए, अपने हाथों उनकी अंतिम क्रिया की और काम को प्रभु ने अपने कृष्ण अवतार-काल में पुत्र के रूप में स्वीकार किया। इस तरह हम देखते हैं कि प्रभु परोपकार की वृत्ति का अत्यधिक सम्मान करते हैं और परहित करनेवाला उन्हें सर्वाधिक प्रिय है।

कामदेव परहित का उद्देश्य लेकर चला और यदि केवल शंकरजी के हृदय में ही काम उत्पन्न करने की चेष्टा करता है तो यह उचित होता, क्योंकि यही तो अभीष्ट था। किन्तु वह ऐसा नहीं करता और तब 'काम' की कमी के रूप में उसका जो दूसरा पक्ष है, वह सामने आ जाता है काम का निंदनीय दोष यह है कि वह 'मर्यादाओं को, सीमाओं को स्वीकार नहीं करता। बंबई में, मैंने देखा कि सड़कों पर बीचो-बीच, विभाजन के लिये, लोहे की छड़ें लगा दी गयी हैं कि जिससे लोग अपनी निर्धारित सीमा के भीतर ही सड़क के दोनों ओर आ-जा सकें। पहले, ये लोहे के विभाजक नहीं थे, मात्र सफेद पट्टियाँ ही सड़क पर बीचों-बीच खिंची रहती थीं। पर ऐसा लगता है कि 'रेखा' को लाँघने का स्वभाव अब यहाँ भी लोगों में आ गया है। इसीलिए लाचार होकर उन सफेद रेखाओं के स्थान पर लोहे की छड़ें लगा देनी पड़ी हैं, जिससे लोग अपनी-अपनी सीमाओं में रहें और यातायात में होने वाली दुर्घटनाओं में कमी हो। इसका अर्थ है कि काम अपनी सीमा में, मर्यादा में रहकर बहुत आनंद दे सकता है पर सीमा में रहना उसके स्वभाव में नहीं हैं।

'काम' भगवान् शंकर के पास जाने लगा तो उसने सोचा-अब मरना तो है ही, क्यों न लोगों को दिखा दूँ कि मैं क्या हूँ? यही काम का दोष है। उसका यह कार्य न तो उचित है और न ही इसकी कोई आवश्यकता ही है। यह तो कुछ उसी तरह की बात हो गयी कि जैसे

एक शल्य-चिकित्सक छुरी लेकर आपरेशन करने जाय, और सोचने लगे कि जब छुरी हाथ में आ ही गयी है तो फिर थोड़ा-सा ही क्यों काटूँ? जरा ज्यादा ही काट देता हूँ। पर कुशल डाक्टर की विशेषता यही है कि जितना आवश्यक हो वह उतना ही काटे। यही छुरी का समुचित उपयोग और डाक्टर का प्रशंसनीय कार्य माना जायेगा।

एक बार हत्या की एक विचित्र-सी घटना पढ़ने को मिली। एक व्यक्ति की सोते समय हत्या कर दी गयी। हत्यारा पकड़ा लिया गया। पता चला कि उन दोनों में न तो कोई पूर्व परिचय था और न ही कोई दुश्मनी थी। आश्चर्य हुआ कि फिर यह हत्या क्यों हुई? उस मुकदमे में प्रसिद्ध वकील श्री कैलाशनाथजी काटजू नियुक्त थे, उन्होंने अभियुक्त से जब अकेले में पूछा कि क्या उस व्यक्ति से तुम्हारी कोई दुश्मनी थी? तो उसने यही कहा कि मैं तो उसे जानता भी नहीं था " तो तुमने उसका सिर क्यों काट दिया?" उसने कहा कि मेरे पास जो फरसा था उसमें जंग लग गयी थी और मैं उसे लेकर उस पर शान चढ़वाने (धार पैनी करवाने) बाजार गया था। शान चढ़ने के बाद फरसा खूब चमकने लगा। बाजार से लौटते समय इस आदमी को सोते देखकर मेरे मन में आया कि जरा इस पर फरसा चला कर देखूँ कि इसकी धार कितनी पैनी है? मैंने इसीलिए उस पर फरसा चला दिया।' काम की वृत्ति भी कुछ इसी प्रकार की दिखायी देती है। गोस्वामीजी विस्तार से इसका वर्णन करते हुए लिखते हैं कि-

तब आपन प्रभाउ बिस्तारा।
निज बस कीन्ह सकल संसारा।।
कोपेउ जबहिं बारिचर केतू।
छन महुँ मिटे सकल श्रुति सेतू।। १/८३/५,६

काम ने सबसे पहले श्रुति का ही सेतु तोड़ दिया। फिर-

ब्रह्मचर्य ब्रत संजम नाना।
धीरज धरम ग्यान बिग्याना।।
सदाचार जप जोग बिरागा।
सभय बिबेक कटकु सबु भागा।। १/८३/७,८

और स्थिति यहाँ तक हो गयी कि जो वेदान्ती संसार को ब्रह्ममय देखते

थे, वे नारीमय देखने लगे-

देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे। १/८४/छं.

जिन योगियों ने समझ लिया था कि हमने मन को मार डाला है, उन्हें दिखायी पड़ा है कि -

जागइ मनोभव मुएहुँ मन, १/८५/छं.

उनके मन में काम जाग्रत् हो गया है। इस प्रकार कामदेव ने केवल अपना चमत्कार दिखाने के लिये समस्त संसार में कामभाव जाग्रत् कर दिया। काम इसी रूप में, जब वह किसी सीमा या मर्यादा का ध्यान न रखकर सब कुछ नष्ट करने पर उतावला हो जाता है, तब अनर्थकारी, अकल्याणकारी और निंदनीय बन जाता है।

गोस्वामीजी से पूछा गया- 'महाराज! उस समय कोई तो बचा होगा? गोस्वामीजी ने कहा-

धरी न काहू धीर सब के मन मनसिज हरे।
जे राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महुँ।। १/८५

"भगवान् ने जिसे बचा लिया वे ही केवल बच पाये, अन्य सब के सब-के-सब काममय हो गये।"

पर इतना चमत्कारी कामदेव जब शंकरजी के आश्रम में प्रवेश कर, उनके सामने पहुँचा तो शंकरजी के दर्शन मात्र से ही एक अनोखा चमत्कार हुआ-

भयउ जथाथिति सबु संसारू। १/८५/२

सारा संसार पूर्ववत् शान्त हो गया और स्वयं काम भी स्तम्भित हो गया। पर अगले ही क्षण काम चैतन्य होकर सोचने लगा "अरे! अभी तक तो मैं अपना चमत्कार ही दिखाता रहा, अब अपना काम भी तो पूरा करूँ! और तब वह आम्रवृक्ष के ऊपर जाकर एक डाल पर बैठ गया।

आम का एक नाम 'रसाल' भी है। 'रसाल' मानो 'रस' का प्रतीक है और इसलिए वह काम को प्रिय तो है ही, भगवान् राम के भक्तों को भी बड़ा प्रिय है। 'रस' की अभिलाषा - 'काम' और 'भक्त' दोनों में ही होती है, पर दोनों में एक अंतर है, रामभक्त तो आम के नीचे बैठते हैं किन्तु 'काम' आम के ऊपर बैठता है।

'काम' के पास जो धनुष है वह फूलों से बना हुआ है और उस पर वह फूलों से ही बने बाणों का संधान करता है। कामदेव ने भगवान् शंकर पर एक बाण चलाया और उस बाण के प्रहार का एक आश्चर्यजनक परिणाम हुआ-

भयउ ईस मन छोभ बिसेषी। १/८६/४

भगवान् शंकर के हृदय में क्षोभ का उदय हो गया। पुष्पवाटिका में भगवान् राम के हृदय में क्षोभ और यहाँ पर भगवान् शंकर के हृदय में क्षोभ! काम दोनों ही स्थानों में 'क्षोभ' उत्पन्न कर देता है।

'क्षोभ' शब्द के अर्थ पर यदि हम एक दृष्टान्त के माध्यम से विचार करें, तो कह सकते हैं कि दूध में यदि रात में 'जामन' डाल दिया जाय तो दूसरे दिन सुबह उस दूध के परिवर्तित रूप को देखकर हम कहते हैं कि 'दही जम गया'। पर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि बिना 'जामन' डाले बर्तन की गंदगी या किसी अन्य खटाई आदि के कारण भी दूध का रूप बदल जाता है और देखने में वह दही से मिलता-जुलता सा दिखायी भी देता है, पर उसे देखकर कोई यह नहीं कहता कि 'दही जम गया' वहाँ यही कहते हैं कि 'दूध फट गया'। यद्यपि 'जमने' और 'फटने' दोनों में ही दूध का रूप बदल गया पर अंतर यही है कि जमने का अर्थ है कि जैसा हमने चाहा वैसा ही परिवर्तन हुआ और फटने का अर्थ है कि जैसा गंदगी ने चाहा वैसा रूप दे दिया। इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि काम जामन भी बन सकता है और विकार या खटाई भी बन सकता है। काम यहाँ लोक कल्याण के लिये 'क्षोभ' उत्पन्न करता है अतः खटाई या विकार के रूप में न होकर जामन के रूप में सामने आता है।

भगवान् शंकर को लगा कि अरे! मेरे मन में काम कहाँ से आ गया? क्रोध से उन्होंने नेत्र खोलकर सामने देखा और ज्योंही उनकी दृष्टि पड़ी, आम की डाल पर बैठा हुआ काम तुरंत ही जलकर भस्म हो गया। काम के जलने की बात तारकासुर के भी कानों में पड़ी। वह अत्यन्त प्रसन्न हो गया और उसने आज्ञा दी - "बाजे बजाओ!" देवताओं के द्वारा शंकरजी के पास काम को भेजे जाने के समाचार से वह बहुत डरा हुआ था, इसलिए मदन-दहन की सूचना से वह प्रसन्नता

से नाचने लगा कि चलो! अब तो सब झंझट ही समाप्त हो गया। गोस्वामीजी कहते हैं कि-

डरपे सुर भये असुर सुखारी।
समुझि कामसुख सोचहिं भोगी।
भए अकंटक साधक जोगी।। १/८६/७-८

कामी दुःखी हो गये पर असुर बड़े प्रसन्न हुए। भगवान् शंकर काम के इस बलिदान को समझ गये। इसलिए रति जब विलाप करते हुए उनके पास आयी तो उन्होंनें काम को अशरीरी रूप में जीवित रहने का आशीर्वाद दे दिया।

काम को जला देने तथा उसे पुनर्जीवित करने के पीछे भी एक महत्त्वपूर्ण संकेत निहित है। बहुत सी ऐसी विषैली वस्तुएँ होती हैं कि जिनको सीधे यदि उसी रूप में लें, तो वे प्राण भी ले सकती हैं। पर आप जानते ही हैं कि आजकल सर्प-विष से भी दवाएँ बनती हैं। प्राचीन काल से आज तक विषैली जड़ी-बूटियाँ दवा के रूप में प्रयोग में आती रही हैं। योग्य वैद्य उनका इस तरह शोधन या परिमार्जन करते हैं कि उस प्रक्रिया से गुजर कर विष भी दवा के रूप में उपयोगी हो जाता है।

भगवान् शंकर भी काम को जलाकर मानो 'भस्म' के रूप में बदल देते हैं और फिर जीवित कर देते हैं जिससे वह अनर्थ का कारण न बनकर लोक कल्याणकारी बन जाय। पर रति को इससे प्रसन्नता नहीं होती। वह भगवान् शंकर से प्रार्थना करती है- "महाराज! मुझे अशरीरी काम से संतोष नहीं हो सकता। आप मेरे पति को शरीर भी प्रदान करने की कृपा करें।" भगवान् शंकर ने कहा - "घबराओ मत! जब यदुवंश में भगवान् कृष्ण अवतार लेंगे, तब तुम्हारा पति उनके पुत्र के रूप में जन्म लेगा-"

जब जदुबंस कृष्न अवतारा।
होइहि हरन महा महि भारा।।
कृष्न तनय होइहि पति तोरा।
बचनु अन्यथा होइ न मोरा।। १/८७/१,२

मानो सूत्र यह है कि काम चाहे घोड़ा बने चाहे पुत्र बने, ईश्वर

से अवश्य जुड़ा रहे, जिससे काम की वह वृत्ति जो व्यक्ति के विचार और विवेक का ध्वंस कर देती है, वह मर्यादा का अतिक्रमण करती है, उसमें परिवर्तन हो। इसलिए हमें काम को कल्याणकारी और मर्यादापूर्ण बनाने के लिये उसे भी भगवान् राम से जोड़ना है, भगवान् कृष्ण से जोड़ना है!